विश्वविद्यालयी शिक्षा के बदलते सरोकार

पिछले दिनों राज्यसभा टीवी पर चर्चा के दौरान नई शिक्षा नीति हेतु अनुशंसा के लिए गठित समिति के अध्यक्ष एवं पूर्व कैबिनेट सचिव टी.एस.आर. सुब्रह्मण्यम ने कह दिया कि पिछले पचास-साठ सालों में जैसा हुआ है, वही इस बार की शिक्षा नीति में भी हुआ है। ये बात वे निश्छलता से कह गए। नौकरशाही में रहा आदमी अमूमन जरूरत से ज्यादा नहीं बोलता, बिंदुवार बात रखना जानता है। फिर भी चेतन-अचेतन मन-मस्तिष्क में बैठी ऐसी बात उनके मुँह से अनायास निःसृत हो गई। सुब्रह्मण्यम जी दक्षिण भारतीय हैं, प्रवाहपूर्ण हिन्दी बोलते हैं। वे जानबूझकर सार्वजनिक तौर पर ऐसी बात नहीं कह सकते, विशेषकर तब, जब मोदी सरकार ने पिछले पचास-साठ साल का बहुत कुछ बदल देने का खुला संकल्प जाहिर कर रखा है। यों सरकार या कोई भी यह दावा नहीं कर सकता कि सब कुछ नया हो जाएगा, क्योंकि पूरा नया तो कभी कुछ होता ही नहीं, पर जितना नया हो सकता था, शायद उतना भी नहीं हो पा रहा है- यह खुद सुब्रह्मण्यम जी के अचेतन मन की चेतन पुकार से स्पष्ट है। उन्होंने अपनी नब्बे अनुशंसाओं का जिक्र किया, पर चर्चा का बहुलांश परीक्षा, परिणाम व ग्रेडिंग के बीच झूलता रहा। उन्होंने चाहे अनजाने में कहा हो या सोच-समझकर, पर एक गहरी सच्चाई जरूर रख दी, नहीं तो पिछले अगस्त में संसद सत्र के दरम्यान सांसदों खासकर पूर्व मानव संसाधन विकास मंत्री कपिल सिब्बल ने जब गुणवत्तापूर्ण, समान व सर्वव्यापी शिक्षा उपलब्ध कराने की दृष्टि से नए मसौदे को बेकार बताकर कूड़े में फेंक देने को कहा, तब इन्हीं सुब्रह्मण्यम ने इसे बिना पढ़े दी गई प्रतिक्रिया बताया था।

प्रायः बहुत सजग-सतर्क होकर जो कार्य किया जाता है, वह नैसर्गिक-प्राकृतिक विधान के विरुद्ध होता है और जो काम अनजाने में संपन्न हो जाता है, वह निसर्ग, प्रकृति, आत्मा व परमात्मा की लय के अधिक सन्निकट होता है। होशोहवास में लोग आत्मिक-परमात्मिक प्रकृति का हनन करते हैं। सांसारिक चेतना में सुविधानुसार गढ़ने की रचनात्मकता होती है, जबकि अचेतन स्थिति में यह नहीं रहती। इस प्रकार की अचेतन स्थिति में सायास लाने के लिए पॉलिग्रॉफिक टेस्ट का सहारा जाता है, जहाँ आदमी सच बोल सकता है। इससे लगता है कि प्रायः लोग होश में होकर भी बेहोश रहते हैं। होश और बेहोशी से परे जो चेतना दोनों ही अवस्थाओं में विद्यमान रहती है, वही सच्ची चेतना है। जागने पर सपने लोप हो जाते हैं, उसी प्रकार दुनियादारी से निकलने पर सत्य प्रतीत होने वाली समझ विलुप्त हो जाती है। आदमी वैश्वानर बनकर एकमात्र आत्मचेतना से निर्दिष्ट होता है।

उच्च शिक्षा का भी काम उच्च चेतना उत्पन्न करना है, परंतु अब इससे कैसी चेतना-सृजनात्मकता जागृत हो रही है - यह विचारणीय है। चिंतन मनन, मौलिक विश्लेषण, अंतर-अनुशासनिक अथवा तुलनात्मक पड़ताल, सामयिक समस्याओं का निदान, रचनात्मकता-सृजनात्मकता का विस्तार तथा आधुनिक जरूरतों व संभावनाओं का पता लगाने के लिए नवान्वेषण उच्च शिक्षा का प्रयोजन है। जो है तो सही, पर ओझल, अदृश्य व अचिन्हित है, उसे सामने लाना और उससे आगे जाना, एकांगी दृष्टि व संकीर्णता से मुक्त होकर खुली चेतना का इंसान बनाना इसका परम लक्ष्य है। इसे प्राप्त करने के निमित्त विश्वविद्यालय की सदियों पुरानी संकल्पना है, जहाँ तपोबल तथा विद्या-बुद्धि से संपन्न शिक्षार्थियों के लिए अपने-अपने चरित्र से धरती के लोगों को सुशिक्षित बनाने का उद्देश्य उल्लिखित है -

विश्वविद्यालयाधीताः तपोविद्यासमुज्ज्वलाः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षंते पृथिव्यां सर्वमानवाः।।

विश्वविद्यालयों में पढ़ने वालों के लिए इतना महान लक्ष्य निर्दिष्ट है, तो फिर पढ़ाने वालों के समक्ष कैसा विजन होना चाहिए? अस्तु, यहाँ जोर शिक्षा द्वारा केवल रोजगार प्राप्त करने, जानकारी कंठस्थ करने तथा समयानुरूप मौखिक व लिखित व्याख्यान देने पर नहीं, बल्कि ज्ञान को आत्मसात कर आत्मिक चरित्र व व्यक्तित्व निर्मित करने पर है। विद्वान वे नहीं जो बहुत कुछ जानते हैं, वरन् वे हैं जो ज्ञान के अनुरूप आचरण करते हैं और जिनके आचरण से ज्ञान बनता-झमकता है। यहाँ महाभारत का एक प्रसंग उल्लेखनीय है। एक बार पांडव-कौरव बालकों को सत्य का पाठ याद करने के लिए कहा गया। सबने एक-आध दिनों में कंठस्थ करके सुना दिया, लेकिन युधिष्ठिर कई दिनों बाद भी ऐसा नहीं कर सके। उन्होंने इसका कारण बताया कि 'मैं अभी भी कभी-कभी झूठ बोल लेता हूँ। पाठ याद तब माना जाएगा, जब मैं पूरी तरह सत्याचरण करने लगूँगा।' वर्तमान में भी जिन लोगों ने थोड़ी-बहुत उच्च शिक्षा

ग्रहण की है, उन सबकी पढ़ाई के दिनों की कुछ न कुछ अनुभवजन्य यादें जरूर रही होंगी; यदि वे उनमें से कुछ अद्‌भुत, अविस्मरणीय को लिपिबद्ध कर दें, तो उन सबके समायोजन से अच्छी शिक्षा नीति निर्मित हो सकती है।

उच्च शिक्षा की स्थिति को लेकर अनेक सकारात्मक व नकारात्मक सम्मतियाँ बौद्धिक समाज में प्रयुक्त होती हैं। उदाहरणस्वरूप, भारत के विश्वविद्यालय वैश्विक रैंकिंग में प्रायः नहीं टिकते, अतः भारतीय नेताओं, नौकरशाहों तथा बड़े धनपतियों की संतानें विदेशों में पढ़ती हैं; सरकारी विश्वविद्यालय फिसड्डी होते जा रहे हैं, जबकि निजी येनकेनप्रकारेण पैसा उगाहने के फेर में रहते हैं। अद्यतन होते वस्तुनिष्ठ पाठ्यक्रम का अभाव है, शोध की गुणवत्ता व स्तरीयता नष्ट हो गई है, योग्य शिक्षकों की भारी कमी है, बहुत सारे पद खाली रहते हैं, जिन पर मनमानी तदर्थ नियुक्ति करके दस-पंद्रह-बीस वर्षों तक काम चलाया जाता है। शिक्षा के बाजारीकरण, व्यवसायीकरण के कारण विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों में दूकानदारी हो रही है, डोनेशन का बोलबाला है, डिग्रियाँ पैसों से बेची जा रही हैं, परीक्षा, मूल्यांकन प्रक्रिया तथा परीक्षा-फल में अनेकानेक तरीकों से सेंध लगने के कारण निष्पक्षता नहीं रह पाती है, अध्यापन की प्रशिक्षित प्रणाली का अभाव है, गुरु-शिष्य परंपरा का ह्रास हो गया है, सुदूर संस्थाओं में प्रयोगशालाओं व उनकी सामग्री का अभाव है। सतही गुटबंदी, नियुक्ति की राजनीति, बुनियादी ज्ञान का अभाव, एकांगी दृष्टिबोध के कारण जीने की कला की कमी, जिजीविषा का ह्रास, मौलिकता का अभाव आज के विश्वविद्यालयी वातावरण की सामान्य-सी बात है। अयोग्य शोध निर्देशक तरह-तरह से शोषण करते हैं। बहुलांश शोध शोध हैं ही नहीं, नकल या पुनरुक्ति हैं। घिसे-पिटे निरर्थक विषयों पर घुमाफिराकर जगह-जगह शोध होते हैं, जिनकी न कोई राष्ट्रीय एवं वैश्विक आवश्यकता है और न सामाजिक-शैक्षणिक मूल्य है। ऋग्वेद में आचार्य को मृत्यु कहा गया है -'आचार्यो मृत्युः', जिसका मतलब है कि आचार्य के सामीप्य में शिष्य के अहं की मृत्यु हो जाती है, किंतु आजकल के न जाने कितने शोधों में निर्देशकों व छात्रों की चेतना की अकाल व स्थायी मृत्यु हो जाती है, जबकि चाहे शिक्षक कितना ही बड़ा हो, उसकी अपनी सीमा होती है, लेकिन विद्यार्थी सदैव सीमातीत होता है।

लगभग सवा सौ साल पहले ज्ञान सहित सभी विषयों को उनकी उपयोगिता के आधार पर मापने और उपयोगिता भी रुपये-पैसों के लाभ के रूप में देखने की प्रवृत्ति के कारण विवेकानंद भी काफी व्यथित थे। तब से लेकर अब तक गुलामी से आजादी तक का सफर तय हुआ, लेकिन शिक्षा की उपयोगिता रुपयों के रूप में तलाशने की अभीप्सा तीव्र से तीव्रतर होते हुए कैंपस चयन व पैकेज के शिखर तक पहुँची है। यह प्रवृत्ति गौण से मुख्य नहीं, बल्कि संपूर्ण हो गई है। इसके शुरुआती दिनों में ही कवि को कहना पड़ा था कि 'शिक्षे! तुम्हारा नाश हो/तुम नौकरी के हित बनी।' आजकल सामाजिक उपादेयता वाली शिक्षा की बजाय किसी भी प्रकार से अधिकाधिक धन उगाहने वाली शिक्षा-बुद्धि व नौकरी-पेशे का साम्राज्य स्थापित है। शिक्षा को रोजगारपरक बनाने के चक्कर में बेरोजगारी बढ़ती गई है, कुछ को भारी पैकेज तो बाकी को बेरोजगारी या 'पढ़े फारसी बेचे तेल, देख भाई कुदरत का खेल' की स्थिति हासिल हुई है। रोजगार का कितना ही बड़ा दबाव हो, तथापि विद्यार्जन के मूल ध्येय-आदर्श से कभी भी कोई शिक्षा परे नहीं हो सकती और यदि इससे विलग हो जाए तो फिर वह शिक्षा नहीं; किंतु आज कोई रोजगार से इतर उच्च शिक्षा का प्रयोजन पूछता है क्या?

इस समय भारत में ७७७ सरकारी तथा निजी विश्वविद्यालय हैं। इनमें से ४७ केन्द्रीय विश्वविद्यालय, ३५० के आस-पास राज्य विश्वविद्यालय और १२५ डीम्ड विश्वविद्यालय हैं। भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, भारतीय प्रबंधन संस्थान, राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी संस्थान, भारतीय राष्ट्रीय विधि संस्थान, अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान जैसे उच्च शिक्षण संस्थान भी १०० के लगभग हैं। देश भर में ३३,००० से ज्यादा कॉलेज हैं। इनके अलावे खुले विश्वविद्यालय, दूरस्थ, पत्राचार एवं अनुवर्ती शिक्षा पाठ्यक्रमों के माध्यम से हर साल लाखों छात्र उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं। मानव संसाधन विकास मंत्रालय का उच्चतर शिक्षा विभाग, राष्ट्रीय मूल्यांकन एवं प्रत्यायन परिषद यानी एनएएसी, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग आदि इनकी गुणवत्ता-स्तरीयता पर परामर्श देते हैं और राज्यों एवं केंद्र तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों के बीच समन्वय का कार्य करते हैं। ये संस्थान स्वयं भी बड़ी परियोजनाओं पर अनुसंधान कराते हैं। यूजीसी के द्वारा सीधे कराए जा रहे अनुसंधान पर करोड़ों-अरबों रुपए खर्च किए जाते हैं। वे कितने मूल्यवान हैं, इसकी समीक्षा बहुत जरूरी है। यूजीसी के सारे स्कीम अघाए-कमाऊ शिक्षकों के लिए हैं, इनसे इतर के अनुसंधित्सुओं के लिए नहीं। अनेक पुस्तकालय, अकादमी, स्मारक, स्वयंसेवी संगठन भी शोध-अध्ययन कराते हैं। वैश्विक आविष्कारों के परिप्रेक्ष्य में इनके योगदान के अंश को देखना भी समय की माँग है। २००४ ई. में मनमोहन सरकार आने

के बाद एक गोवा को छोड़कर सभी राज्यों में केन्द्रीय विश्वविद्यालय खुल गए हैं। गोवा में न होने के पीछे क्या पेंचदगी है - यह केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय के साथ गोवा सरकार ही बता सकती है। अभी हाल-फिलहाल में मोदी सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्री प्रकाश जावडेकर ने भी २० विश्वस्तरीय विश्वविद्यालयों के गठन का संकल्प व्यक्त किया है। यह कब, कहाँ, कैसे फलितार्थ होगा - अभी कहना कठिन है। दुष्यंत कुमार के शब्दों में -

आज सड़कों पर लिखे हैं सैकड़ों नारे न देख,
घर अँधेरा देख तू, आसमान के तारे न देख।

जो भी हो, कम से कम एक ऐसा विश्वविद्यालय अवश्य खुलना चाहिए, जो प्राचीन नालंदा व तक्षशिला के जोर का हो और आधुनिक कैम्ब्रिज, हार्वर्ड, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से कमतर भी न हो। कहने वाले कह सकते हैं कि यह तो है ही, एक नहीं कई-कई। खैर, यहाँ धर्म, दर्शन, भाषा, संस्कृति, मनोविज्ञान, आर्थिकी, इतिहास, राजनीति, प्राकृतिक विज्ञान, चिकित्सा, भूगोल, वाणिज्य, भौतिकी, रसायन, जीव-जंतुविज्ञान, प्रौद्योगिकी, अनुवाद, पत्रकारिता, ललित कला इत्यादि सबका समन्वित एक ही बृहद् पाठ्यक्रम के अध्ययन की सुविधा हो, जहाँ शिक्षार्थी का सर्वांग उन्नयन मुख्य ध्येय हो, बेशक यह आजीविका की दृष्टि से भी सुस्त नहीं रह सकता।

श्री प्रकाश जावडेकर ने 'दैनिक जागरण' में लेख लिखकर शिक्षकों, बुद्धिजीवियों, शिक्षाविदों, विचारकों सहित तमाम लोगों से नई शिक्षा नीति पर सुझाव देने का सार्वजनिक आह्वान किया है। पता नहीं, वर्तमान शिक्षा व्यवस्था व शिक्षा नीति से क्षुब्ध-चिंतित कितने जागरूक जनों ने कैसा-क्या सुझाया है। लेकिन इस संदर्भ में सटीक व ठोस राय देने का दायित्व सबका है। क्या करना है - इतना ही बताना पर्याप्त नहीं, बल्कि कैसे करना है - यह दर्शाना भी जरूरी है, क्योंकि कार्य करने का तरीका किसी काम को अच्छा या बुरा बनाता है। दिक्कत यह है कि पहले लिख-कह देने से किसी चीज का होना संदिग्ध और जमीन पर उतारना कठिन हो जाता है। इसलिए जमीनी धरातल पर फलीभूत होकर ही वह कहा जाए तो अच्छा है। रघुवीर सहाय के शब्दों में -

एक बात अभी लिखी नहीं गई बाकी है
होने को भी बाकी, लिखी जाए या न लिखी जाए
वह तुम जानते हो क्या?